ओ३म्

एक प्रति मूल्य : रु० 4.00

सन् 1923 में स्वामी श्रद्धानन्द जी द्वारा स्थापित

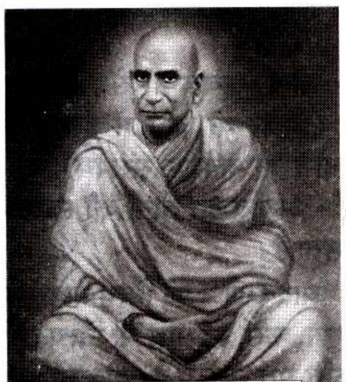

स्वामी श्रद्धानन्द

शुद्धि समाचार

भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा का मासिक मुखपत्र

पं. मदनमोहन मालवीय

वर्ष 36 अंक 6

"शुद्धि ही हिन्दू जाति का जीवन है"

दूरभाष : 011-23847244

वार्षिक शुल्क : 50 रुपये

जून, 2013 विक्रम सम्वत् 2070 वैशाख-ज्येष्ठ

सनातन धर्मी नेता - पं. मदनमोहन मालवीय

आजीवन शुल्क : 300 रुपये

परामर्शदाता : श्री हरबंस लाल कोहली ☼ श्री विजय गुप्त ☼ श्री सुरेन्द्र गुप्त ☼ प्रबन्धक : श्री नरेन्द्र मोहन वलेचा

आर्यसमाज का सैद्धान्तिक दृष्टिकोण

भारतवर्ष आर्यों का आदि देश है। आर्य का अर्थ है - 'श्रेष्ठ-स्वभाव, धर्मात्मा, परोपकारी, सत्य-विद्यादि युक्त, गुणयुक्त.. अर्थात् धर्म न्याययुक्त नियमों में चलने वाले शान्तिप्रिय और समाज का अभ्युदय चाहने वाला उत्तम नागरिक।'

मानवसृष्टि होने के बाद जिन्होंने समाज का संगठन किया, उन्हें भी 'आर्य' कहते हैं। ये मानव जाति के पूर्वज (मूलपुरुष) सबसे पहले 'त्रिविष्टप' (तिब्बत, हिमालय) पर प्रगट हुए। इस 'आर्य-जाति' से पहले संसार में और कोई 'मानव समुदाय' नहीं था। पीछे से जनसंख्या बढ़ जाने पर ये ही सर्वत्र भूमण्डल पर फैल गये और इसके ही भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न नाम हो गये।

यह बात निश्चित है कि ईश्वर के दिये उपदेश (आदिज्ञान वेद) के ज्ञान के बिना किसी मनुष्य को यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता तथा कोई भी मनुष्य विद्वत्ता नहीं प्राप्त कर सकता और किसी मनुष्य को ग्रन्थ रचने का सामर्थ्य नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त सृष्टि के आरम्भ में पढ़ने-पढ़ाने की कुछ भी व्यवस्था नहीं थी और न कोई विद्या का ग्रन्थ ही था, इस लिये ईश्वर द्वारा प्रदत्त ज्ञान ही आदि मानव समुदाय का पथ-प्रदर्शक था।

उस ज्ञान के आधार पर इन आर्यों ने परस्पर मिलकर कुछ कायदे-कानून, विधि-विज्ञान, आचार-विचार और वेशभूषा के नियम नियत किए, जीवन का दर्शन विकसित किया। आर्यों के इस तत्व विचार का नाम 'आर्य-सिद्धान्त-संग्रह' है।

अत्यन्त प्राचीनकाल में उन आर्य सिद्धान्तों का प्रचार सर्वत्र भूगोल में था और सबकी उसी एक वेदोक्त-मत में निष्ठा थी और सब एक-दूसरे का सुख-दुःख, हानि-लाभ आपस में अपने समान समझते थे, तभी भूगोल में सुख था।

फिर धीरे-धीरे नाना सभ्यताओं और मत-मतान्तरों का प्रादुर्भाव हुआ और जिससे बहुत-सा दुःख और विरोध बढ़ गया।

भारतवर्ष में महाभारत से पूर्व आर्य-धर्म, आर्य-संस्कृति, आर्य-सभ्यता और आर्य-दर्शनों का भारतीयों के जीवन में प्रभाव था, तब यहां सर्वत्र सुख था, धर्मराज्य था।

यहां भी धीरे-धीरे मत-मतान्तरों का जन्म हो गया, देश में अज्ञान छा गया, कुरीतियां बढ़ गईं, धर्म नष्ट हो गया और यह देश परतन्त्र हो गया।

ऋषि दयानन्द का आविर्भाव और आर्यसमाज की स्थापना -

संसारऔर भारत देश की ऐसी बिगड़ी दशा में महर्षि दयानन्द का जन्म इस परम पवित्र भूमि पर सन् 1824 ई. में हुआ। विश्व और भारतवर्ष की विकृत दशा को देखकर उस ऋषि के हृदय में करुणा का संसार हुआ और उसने संसार के उपकार करने अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति के लिए पुनः एक कार्यक्रम बनाया। इस दिव्यदृष्टि की उपलब्धि उन्हें तप, स्वाध्याय करने के बाद वेदों द्वारा मिली। इसलिए उन्होंने वेदों के आधार पर मानव धर्म और मानव संस्कृति का प्रचार प्रारम्भ किया और दुनिया को बताया कि 'आर्य-सिद्धान्त' ही मनुष्य की सर्वविध उन्नति का मार्ग बनाने वाले हैं।

विश्व इन सिद्धान्तों को भूल चुका था, उस पवित्र वेदधर्म का स्वरूप वेदों का पठन-पाठन न होने से अत्यन्त विकृत हो चुका था। ऋषि ने उसका शुद्ध रूप विश्व के सामने रखा और उन 'आर्य-सिद्धान्तों' के प्रचार के निमित्त उत्तम आर्यजनों का एक संगठन बनाया, जो 'आर्य समाज' नाम से जगत् में प्रसिद्ध है।

शुद्ध प्रजातन्त्र-प्रणाली के आधार पर आर्यसमाज का संगठन हुआ है। क्योंकि यह मानव जीवन के हर पहलू पर पथ-प्रदर्शन करता है, इसलिए इसका सदस्य बनने से मनुष्य की हर प्रकार की कामनाओं की पूर्ति होती है। यह इस युग की विचारधारा में आमूलचूल परिवर्तन लाने वाली एक निराली प्रगतिशील क्रान्तिकारी संस्था है। इसकी स्थापना सन् 1875 में सर्वप्रथम मुम्बई नगरी में हुई। इसके संस्थापक 'महर्षि दयानन्द' वर्त्तमान युग के सबसे प्रथम मानववाद के प्रचारक हुए हैं।

आर्यसमाज का स्वरूप -

आर्यसमाज एक सार्वभौम आस्तिक धर्म-प्रचारक संघ है, जो सृष्टि को रचने वाली सर्वोपरि एक दिव्य चेतनाशक्ति तथा जनहित के लिए उसके दिये आदिज्ञान (कल्याणी वाणी-वेद) को स्वीकार करता है। उस आदिज्ञान को अपने कार्य-कलापों, कर्त्तव्यों, विधि-विधानों व दार्शनिक सिद्धान्तों का आधार मानता है। यह 'सत्य सनातन वैदिक धर्म' को मानव के अभ्युदय (अर्थ, काम) और निःश्रेयस् (मोक्ष) का साधन मानता है।

मानव-जीवन का उद्देश्य धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष-

इस चराचर जगत् में समस्त जीवधारी प्राणियों के आवागमन का प्रयोजन (पर्यस्) अपने शुभाशुभ कर्मों के फलों को भोगकर मोक्ष प्राप्त करना है। मानव जीवन का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष- इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति करके आनन्द भोगना है। ब्रह्मचर्य-साधना, व्यभिचार-निवृत्ति, अग्निहोत्रादि यज्ञों से वृष्टि द्वारा उत्तम अन्न प्राप्ति और उसके उपभोग द्वारा उत्तम आरोग्य सम्पादन करने से तथा प्रयत्न पूर्वक तन, मन, धन और आत्मा द्वारा ईश्वर के सहाय से पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि होती है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष- इन चारों पदार्थों की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास- इन चार आश्रमों का सेवन करना सब मनुष्यों को उचित है।

आर्य सिद्धान्तों के मूल दार्शनिक आधार-

(1) जड़-चेतन- क्योंकि सृष्टि में जड़-चेतन रूप द्विविध तत्त्वों

का मेल दृष्टिगोचर होता है, इसलिये आर्यसमाज विश्व के समस्त पदार्थों को जड़ और चेतन (चर-अचर, क्षर-अक्षर, विनाशी-अविनाशी) दो वर्गों में विभक्त करता है। जड़ अर्थात् प्रकृति, सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र, पृथिवी आदि वृक्ष-वनस्पति आदि प्राणियों के नाना शरीर आदि सब प्राकृतिक पदार्थ। चेतन अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और मन से युक्त मनुष्य पशु पक्ष्यादि प्राणी वर्ग और इनसे रहित ईश्वर।

क्योंकि यह विश्व जड़-चेतन दोनों का मेल है, दोनों स्पष्टतया भिन्न दृष्टिगोचर होते हैं, इसलिये किसी एक तत्त्व के आधार पर विश्व की सब समस्याओं का वैज्ञानिक सुसंगत समाधान नहीं हो सकता।

(2) सुख-दुःख -

क्योंकि सृष्टि में सुख-दुःख दोनों दिखाई देते हैं, इसलिए आर्यसमाज जीवन को सुख-दुःख मिश्रित मानता है। 'सर्वदुःखं अनित्यं च' केवल ऐसा संसार में नहीं है। यदि सृष्टि के सुख-दुःख की तुलना की जावे, तो सुख कई गुणा अधिक उपलब्ध होता है।

इसलिये केवल सुख-दुःख या केवल दुःखवाद के आधार पर बना मार्गदर्शन पूर्ण सुसंगत और वैज्ञानिक नहीं हो सकता। ऐसा दर्शन जीवन की अधूरी व्याखया और उन्नति का अधूरा उपाय बतायेगा।

(3) पाप-पुण्य -

क्योंकि सृष्टि में पाप-पुण्य दोनो पाये जाते हैं, जगत् केवल पापमय या पुण्यमय नहीं, इसलिए आर्यसमाज जीवन को पाप-पुण्य मिश्रित मानता है।

इसलिए जीवात्मा को जन्मतः पापवान् या पुण्यवान् मानकर बना जीवन-दर्शन पूर्ण सुसंगत और वैज्ञानिक नहीं हो सकता। ऐसा दर्शन जीवन की अधूरी व्याख्या और उन्नति का अधूरा उपाय बतायेगा।

आर्य सिद्धान्तों का जीवन सम्बन्धी दृष्टि-कोण -

(1) प्रवृत्ति-निवृत्ति -

क्योंकि 'इच्छा, ज्ञान, प्रयत्न' जीव के स्वाभाविक गुण हैं- उसकी सत्ता के लिंग हैं, इसलिए सृष्टि में आकर जन्म पाकर प्रवृत्त होना आवश्यक है। कर्म में प्रवृत्ति सहज है। और क्योंकि 'धर्म' द्वारा 'अर्थ-काम' में प्रवृत्त होने के पश्चात् सांसारिक सुख-दुःख के भोग से 'मोक्ष' (मोचन मुक्ति छूटना-पृथक् हो जाना और सुख ही सुख में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरना) मानव जीवन का चरम उद्देश्य है, इसलिए सृष्टि में आकर, जन्म पाकर, प्रवृत्त होकर भी इन से 'निवृत्त' (विरक्त) होना आवश्यक है। इस प्रकार 'जीवन की पूर्णता' के लिए 'प्रवृत्तिमार्ग' और 'निवृत्तिमार्ग' दोंनों का सामञ्जस्य जरूरी है। जन्म पाना 'प्रवृत्ति' का द्योतक है और (अभ्यास वैराग्य द्वारा) 'निवृत्त' प्राप्त करने का साधन है। ब्रह्मचर्य आश्रम 'प्रवृत्ति' की तैयारी और गृहस्थाश्रम 'प्रवृत्ति' का प्रयोजक है।

वानप्रस्थाश्रम 'निवृत्ति' की तैयारी और संन्यासाश्रम 'निवृत्ति' का साधनाक्षेत्र है। ब्रह्मचर्य 'धर्म' सम्पादन का अवसर देता है, गृहस्थाश्रम 'अर्थ-काम' से निवृत्त हो 'मोक्ष' की ओर कदम और संन्यास 'मोक्ष' का 'साधना-मन्दिर' है। इस प्रकार इन दोंनों में समन्वय करता है।

(2) त्याग भोग-

प्रकृति में त्याग और भोग दोंनों प्रकार के कर्म हैं। कुछ त्याग कर रहे हैं, कुछ भोग रहे हैं। मनुष्य को दोंनों प्रकार के कर्म करने चाहिये। 'संसार भोग' पाप नहीं, 'संसार त्याग' पुण्य नहीं। दोंनों का समय है। विवेक दोंनों में मेल के बिन्दु का निदर्शन करता है। मानव जीवन में दोंनो प्रकार के कर्म आने चाहिये। इसी का नाम 'यज्ञमय' जीवन बिताना है। देवपूजा - इन्द्रियों और दैवी शक्तियों का आनन्द के लिए सदुपयोग, संगतिकरण-अपने को भोग और त्याग में संगत करना, दान-भोग के लिए प्राप्त पदार्थों का त्याग। कितना सुन्दर वैज्ञानिक समन्वय है।

आर्य सिद्धान्तों में जीवन की पूर्णता का निर्देश -

व्यक्ति समष्टि में समन्वय रूप से है। परहित (समाज की भलाई) में स्वहित (व्यक्ति का श्रेय) देखना ही 'अभ्युदय' और इन दोंनों से ऊपर उठ अपने को सर्वोपरि शक्ति के सानिध्य में रखना 'निःश्रेयस्' है। व्यक्ति समाज के लिए अपने व्यक्तित्व को समाप्त कर दे और समाज प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए अवकाश दे, साधन सामग्री प्रस्तुत करे, इसी में जीवन की पूर्णता है।

आर्य सिद्धान्त के निर्णायक तत्त्व -

विचार और आस्था, बुद्धि और विश्वास, श्रद्धा और तर्क दोंनों है। 'सत्य' ज्ञान के लिये पहले तर्क, वाद-विवाद, विचार, बुद्धि का उपयोग आवश्यक है और ज्ञान 'सत्य' पर आचारण के लिए अडिग 'श्रद्धा' की आवश्यकता है। जब तक 'श्रद्धा-मेधा' में समन्वय नहीं होता, तब तक मनुष्य न सत्य को जान सकता है, न सत्य पर आचरण कर सकता है और न पा सकता है केवल तर्क से मनुष्य जीवन खण्ड-खण्ड अस्त-व्यस्त हो जाता है, और केवल श्रद्धा से उसमें जड़ता आ जाती है, मानव-जीवन की उन्नति के द्वार बन्द हो जाते हैं।

जब तक हम इन ऊपर लिखी बातों को ध्यान में नहीं रखते, तब तक आर्य सिद्धान्तों की शुद्ध दार्शनिकता और आर्य-संस्कृति की श्रेष्ठता को नहीं समझ सकते। ऋषि दयानन्द ही वे व्यक्ति हैं, जिन्होंने इन मूल दार्शनिक आधारों का पता चलाया, उनमें समन्वय स्थापित किया। इसी कारण मानव जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण अत्यन्त विशाल और व्यापक तथा आर्य-सिद्धान्तों की उनकी व्याख्या अधिक क्रमबद्ध और सुसंगत है। और संक्षेप में सत्य यह है कि इन सिद्धान्तों को जीवन में घटाए बिना शान्ति की प्राप्ति किसी भी मूल्य पर असम्भव है।

सृष्टि के मूल कारण-ब्रह्म, जीव, प्रकृति -

आर्यसमाज की दृष्टि में सृष्टि या मूल ब्रह्माण्ड के तीन कारण हैं। वह इन तीनों शक्ति तत्त्वों को गुण, लक्षण, कर्मों की भिन्नता के कारण भिन्न, किन्तु अनादि और अविनाशी मानता है। जिसमें -

(क) प्रकृति इस स्थूल संसार का उपादान कारण जड़ है और भोगने-योग्य है। अर्थात् जीवात्मा का भोगायतन (शुभाशुभ) कर्मों के (सुख-दुःखात्मक) फलों की भोगस्थली परिवर्तन-शीला है।

(ख) जीव साधारण कारण कर्त्ता, भोक्ता, चेतन पर अल्पज्ञ है।

(ग) परमेश्वर निमित्त-कारण, सृष्टिकर्त्ता, व्यवस्थापक, साक्षी चेतन, कर्माध्यक्ष है।

प्रकृति के सर्वस्थूल एवं (पञ्च-तन्मात्रा रूप) में सूक्ष्म, जीवात्मा के सूक्ष्मतर और परमात्मा के सूक्ष्मतम होने से आर्यसमाज क्रमशः तीनों को परिणामशील (प्रकृति), अपरिणाम-शील किन्तु परिच्छिन्न (जीव) और परिणाम-परिच्छेद-रहित विभु (ईश्वर) मानता है।

तीनों स्वरूप से अनादि, अनन्त (ईश्वर के ज्ञान में ईश्वर के सर्वज्ञ होने के कारण संख्येय) और नित्य हैं- अर्थात् इन तीनों की स्वतन्त्र पृथक् सत्ता है।

याद रखो ! जो नित्य पदार्थ हैं, उनके गुण, कर्म, स्वभाव भी नित्य होते हैं। प्रकृति सत् स्वरूप है, जीव सच्चित् स्वरूप और ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप है। इस मर्मतत्त्व को समझ लेना ही तीनों शक्ति तत्त्वों की ध्रुव धारणा का सत्यज्ञान करना है।

क्योंकि यह विश्व जड़-चेतन दोंनों का मेल है, इसलिए किसी एक तत्त्व जड़ या एक तत्त्व चेतन से 'विश्व की पहेली' को बूझना तर्कविरुद्ध, अवैज्ञानिक और कार्यकारण के सर्वमान्य नियम का तिरस्कार है।

आदिमूल, ईश्वर-ओंकार-ब्रह्म-

आर्यसमाज की दृष्टि में दृश्यादृश्यमान प्रपञ्च की नियामक वह सर्वोपरि आदि प्रेरक दिव्य चेतना शक्ति सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त है। इसके गुण-कर्म-स्वभाव और स्वरूप पवित्र एवं सत्य हैं। यह नित्य अद्वितीय सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक अनादि अनन्त आदि सत्यगुण वाला है। अकारणकारण (स्वयंभूः) अविकारी अपरिवर्नशील ज्ञानी (सर्वज्ञ) आनन्दी शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव त्रिकालातीत न्यायकारी दयालु तथा अजन्मा आदि स्वभाव वाला है।

उसके कर्म जीवों के कल्याणार्थ जगत् की उत्पत्ति पालन और विनाश करना तथा सब जीवों को उनके कर्मानुसार सत्य न्याय से पाप-पुण्य के फल ठीक-ठीक देना है। वह सगुण निर्गुण और निराकार है।

परमेश्वर का नाम -

'ओंकार' शब्द उसका सर्वोत्तम नाम है और इस एक नाम में उसके बहुत से नाम आ जाते हैं। वेद और उपनिषदादि शास्त्रों में उसका यही वास्तविक नाम बताया गया है। वह दयालु, न्यायकारी, एक अकेला दृष्टा, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, स्वयं स्थिर, सर्वशक्तिमान्, निराकार, अजन्मा, निर्विकार एक-रस है।

जीव के जन्म-मरण की डोर उसी के हाथ में है। एकेश्वरवाद के श्रुतिसम्मत तथा युक्तियुक्त होने से अनेकेश्वरवाद की कल्पना सर्वथा व्यर्थ है। ऐसे ही अजन्मा होने से उसका जन्म भी नहीं माना जा सकता। वह अवतार न लेता है, न लेने की

- शेष पृष्ठ 4 पर...

सम्पादकीय

–डॉ. भारद्वाज पाण्डेय

आचारः परमोधर्मः

भारतीय संस्कृति धर्म प्रधान है। धर्म से तात्पर्य ऐसे सद्गुणों से है जिनको धारण करके मनुष्य अपने अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि प्राप्त करके अखण्डरूप से स्थायी सुख–शान्ति को प्राप्त कर पाने में सामर्थ्यवान् हो पाता है। अर्थ और काम से अनासक्त पुण्यात्मा को ही धर्म का स्वारस्य प्राप्त होता है। धर्म की जिज्ञासा होने पर वेद ही उस विषय में परम प्रमाण है– ऐसा मनु आदि ऋषियों का मानना है। वेद प्रतिपादित धर्म का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके उसे जीवन में धारण करने वाला व्यक्ति ही धार्मिक कहा जाता है। इसी लिए भारतीय संस्कृति में सद्आचार को परम धर्म कहा गया है। आचारभ्रष्ट व्यक्ति को साक्षात् वेद भी पवित्र नहीं कर सकते। अतः धार्मिकता की प्रथम सीढ़ी सदाचारशीलता है। असंयमी स्वेछाचारिता के प्रति आग्रह शील होता है, जबकि संयमी का सब कुछ धर्म पालन करने में समाहित होता है। सदाचार और भ्रष्टाचार दो विपरीत ध्रुव हैं। अतः वेद में सर्वत्र मनुष्य को यही प्रेरणा दी गई है कि वह यज्ञमय जीवन जीने के लिए यत्नवान् हो। अधार्मिक या भ्रष्टाचारी हो कर तात्कालिक किसी स्वार्थ की सिद्धि भले होती हो पर उसका दीर्घ कालिक परिणाम हमेशा भयावह ही होता है। अतः सदाचाररहित पुरुषार्थहीन उपलब्धियों के आकर्षण में न आना ही विवेकी मनुष्य का कर्तव्य है। अनैतिक साधनों से धन कमाना या इच्छाओं की पूर्ति करना आज विश्व की सबसे बड़ी समस्या है। हमारे देश का तो और बड़ा दुर्भाग्य है कि आज यह भ्रष्टाचार के शीर्ष स्थानीयों में गिना जाता है। संस्कार विहीन मनुष्य की प्रकृति ही ऐसी है कि वह पानी की तरह अधोगति करता है और अन्यायपूर्ण साधनों से धन प्राप्ति करता है। ऐसे व्यक्तियों को वेद "ऋत के ऋजु मार्ग" पर चलने की प्रेरणा देता है। वैदिक संस्कृति की अवधारणा है कि शुभ रीति से अर्जित लक्ष्मी ही पुण्यशीला होती है। उसी से मनुष्य तथा समाज का कल्याण होता है। व्यक्ति को अपनी आजीविका के साधनों के चयन में अत्यन्त सावधान होना चाहिए। मन को पापी धन या आकर्षण से बचाने के लिए दृढ़ अंकुश की आवश्यकता होती है। इस मन को वश में करके ही व्यक्ति अपने को आचरण भ्रष्ट होने से बचा सकता है। मन पर विजय प्राप्त कर लेने पर भ्रष्ट आचरण या पाप कर्म कुछ नहीं होगा।

ईशावास्योपनिषद्–महत्त्व एवं सार संक्षेप

–प्रो. डॉ. सुन्दरलाल कथूरिया

"ईशावास्योपनिषद्" वेदान्त का प्रवेश–द्वार है। यजुर्वेद (शुक्ल यजुर्वेद संहिता) के अन्तिम अध्याय अर्थात् चालीसवें अध्याय का नाम "ईशावास्योपनिषद्" या "ईशोपनिषद्" है। वेद के अन्तिम अध्याय से सम्बद्ध होने के कारण जहां यह उपनिषद् "वेदान्त" (वेद+अन्त–'वेदान्त' अर्थात् वेद का निचोड़ या सार) शब्द को सार्थक करता है, वहाँ दार्शनिक अध्यात्मिक दृष्टि से भी यह वस्तुतः वेदान्त ही है। दस या ग्यारह प्रमुख उपनिषदों में से यह प्रथम स्थानीय है– गणना की दृष्टि से और महत्व की दृष्टि से भी। अन्य अनेक उपनिषदों के समान इसमें उपाख्यान नहीं हैं, अपितु केवल मंत्र हैं, ऋचाएं हैं। "ईशावास्योपनिषद्" के कुछ प्रकाशित संस्करणों में जहां मंत्रों की संख्या अठारह हैं, वहां कुछ में यह संख्या सत्रह हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा निर्मित "यजुर्वेद भाष्यम्" में इन मंत्रों की संख्या सत्रह ही हैं। "ईशावास्योपनिषद्" का महत्व इस बात से प्रमाणित होता है कि जितनी टीकाएं इस उपनिषद् की हुई हैं, अन्य किसी उपनिषद् की नहीं हुई।

"ईशावास्योपनिषद्" दार्शनिक ग्रंथ है, यह दर्शन का विषय है। इसका मुख्य विषय अनुभूतिगम्य ईश्वर का दर्शन है, ब्रह्म का साक्षात्कार है, मोक्ष की प्राप्ति है, मुक्ति का रहस्योद्घाटन है। इस उपनिषद के सत्रह अठारह मंत्रों को मनीषियों ने अद्वैत, द्वैताद्वैत, निष्काम कर्मयोग, सांख्य, योग, वेदान्त आदि मतों की अपनी अपनी दृष्टि से व्याख्यान किया है। जहां कुछ विद्वानों की दृष्टि में इस उपनिषद् के सभी मंत्र सभी के लिए आचरणीय, मननीय, विचारणीय हैं, क्योंकि इनमें मानव मात्र को ऊर्ध्वरेतस् बनाने और मुक्ति की ओर ले जाने के व्यावहारिक संकेत हैं, वहां जगदगुरु शंकराचार्य ने इनमें के कुछ मंत्रों को संन्यासियों से तो कुछ को गृहस्थियों से विशेषरूपेण सम्बद्ध किया है। मेरी अल्पज्ञ बुद्धि के अनुसार चूंकि ईश्वरीय वाणी वेद सभी के कल्याण के लिए है, अतः ईशोपनिषद् के ये मंत्र भी सभी के लिए हैं, मानव मात्र के कल्याण के लिए हैं।

"ईशोपनिषद्" में ज्ञान, कर्म, भक्ति, स्तुति, प्रार्थना, उपासनादि के साथ व्यावहारिक अध्यात्म का भी समावेश है। मानव मात्र के लिए मंगल का विधान करने वाले इन कुछ मंत्रों में सम्पूर्ण जीवन दर्शन का विधान है, ईश्वर प्राप्ति का मार्ग निर्देशित है। यदि हम ईश्वर का सान्निध्य चाहते हैं, ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहते हैं, मुक्ति लाभ लेना चाहते हैं तो उसके लिए आवश्यक यह है कि हम ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को जानें। जब तक हम उस प्रभु के सच्चे स्वरूप को जानेंगे नहीं, उसकी आज्ञा का पालन नहीं करेंगे, उसके प्रिय कामों को अपने आचरण में लायेंगे नहीं तब तक उसे पायेंगे कैसे? इन सभी प्रश्नों जिज्ञासाओं के समाधान "ईशावास्योपनिषद्" में हैं। इस उपनिषद् के रहस्य को समझ लेने और इसके उपदेश को जीवन में उतार लेने पर परम पुरूषार्थ मोक्ष की सिद्धि सहज संभव है। धर्मपूर्वक अर्थोपार्जन और त्यागपूर्वक कामनाओं की सिद्धि एवं भोग के साथ साधक व्यक्त अव्यक्त सृष्टि के रहस्यों को हृदयंगम कर सदैव ईश्वर की सत्ता का मान करते हुए मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। सम्भूति के द्वारा मृत्यु को पार कर अमरत्व की ओर प्रस्थान कर सकता है।

ईश्वर को पाने की पहली आवश्यकता उसके वास्तविक स्वरूप को जानने की है। "ईश" से प्रारम्भ होने वाले "ईशावास्योपनिषद्" में, इसके अनेक मंत्रों में ईश्वर के सच्चे और वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार कराया गया है। इस उपनिषद् के पहले ही मंत्र में यह बताया गया है कि ईश्वर दृश्य–अदृश्य जगत के कण–कण में व्याप्त है, वह सर्वव्यापक है, जड़–जंगम में उसकी सत्ता है और सर्वव्यापक होने के कारण वह हमारे सभी कर्मों को देख रहा है, हमारे सभी कर्मों का साक्षी है। अन्य अनेक मंत्रों में भी उसके स्वरूप का व्याख्यान करते हुये यह बताया गया है कि वह परमेश्वर सर्वव्यापी अकाय (शरीररहित) सर्वशक्तिमान, शीघ्रकारी, छिद्ररहित, नस–नाड़ियों से हीन, शुद्ध, पापरहित, सर्वज्ञ सबके मन के भावों को जानने वाला, दुष्टों का दमन करने वाला, अनादि–अजन्मा है तथा उत्पत्ति, विनाशादि से रहित है। उसी ने मनुष्यों को वेद के द्वारा सभी पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्रदान किया है और सभी पदार्थों को प्रजा के हित के लिए बनाया है, यह विद्वानों के लिये निकट एवं अज्ञानियों के लिए दूर है, वह सबके हृदयों में तो विद्यमान है ही, प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष जगत् के बाहर भी विद्यमान है।

ऐसे अजन्मा, अनादि, अनन्त, सर्वव्यापक, न्यायकारी, अशरीरी परमेश्वर की निकटता प्राप्त करने के लिए मनुष्य का शुद्धाचरण, प्राणिमात्र पर दया, जागतिक पदार्थों का त्यागपूर्वक भोग, धर्मपूर्वक अर्थोपार्जन, दूसरों के धन पर गिद्धदृष्टि न रखना तथा श्रेष्ठ कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करना आवश्यक है। सुपथ पर चलते हुए अपने जीवन को प्रकाशित ज्योतित करते हुए मनुष्य सौ वर्ष तक निष्काम भाव से यदि–शुभ कर्म करेगा तो वह कर्मों के बन्धन में लिप्त नहीं होगा। आत्मा की आवाज को सुनकर मन वाणी और धर्म में एकता को बनाये रखने वाले महात्मा ही शुभ कर्म करने एवं ब्रह्म का साक्षात्कार करने में समर्थ होते हैं, किन्तु आत्मा का हनन करने वाले वे दुरात्मा जिनके मन में कुछ और वाणी में कुछ और तथा कर्म में कुछ और होता है अन्धकारमय लोकों को प्राप्त होते हैं अर्थात् अनादि, अनुत्पन्न त्रिगुणात्मिका (सत्व, रज, तम) प्रकृति की उपासना करते हैं, किन्तु ईश्वर को भूल जाते हैं, और उनसे भी अधिक अन्धकार को वे प्राप्त होते हैं कि जो "सम्भूति" अर्थात्

– (शेष पृष्ठ 7 पर)

- शेष पृष्ठ 2 का...

आवश्यकता है और न ले सकता है।

इसलिए (1) श्रेष्ठ व उन्नत होने (2) मोक्ष-सुख प्राप्ति (3) विश्वविद्या की प्राप्ति (4) महाकठिन कार्यों की सिद्धि और (5) कृतज्ञता प्रदर्शन के लिये -वह शक्ति जो सकल ब्रह्माण्ड का संचालन करती है, पृथिवी पर न्याय और शक्ति का प्रसार करती है, जिसकी दया व सामर्थ्य से सब जीवों (मनुष्य व अन्य प्राणियों) के भोग के निमित्त नाना प्रकार के पदार्थ भरपूर होते हैं, सब मनुष्यों को पूर्वोक्त लक्षण युक्त उसी परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना और उपासना करनी चाहिये।

जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है अर्थात् जब समाधिस्थ होता है, तब उसको अपना स्वरूप और परमात्मा दोनों प्रत्यक्ष होते हैं।

परमेश्वर के नामों का अर्थ जानकर परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल अपने गुण-कर्म-स्वभाव को करते जाना ही परमेश्वर का नाम-स्मरण है। यदि मनुष्य उसके एक नाम के भी अर्थ को अपने में धारण करे, तो उस एक नाम के जाप या स्मरण से भी मनुष्य का कल्याण हो सकता है।

इस प्रकार आर्यसमाज की दृष्टि में वेद और युक्तिविरुद्ध होने से मूर्तिपूजा अधर्मरूप है, निष्प्रयोजन है। यह सीढ़ी नहीं, किन्तु एक बड़ी खाई है, जिसमें गिरकर मनुष्य चकनाचूर हो जाता है।

परमेश्वर की प्राप्ति या मुक्ति की भावना से 'तीर्थभ्रमण' गंगास्नान' आदि भी निष्प्रयोजन होने से त्याज्य हैं। ये जल-स्थल में बने तीर्थ तरानेवाले नहीं, किन्तु डुबाकर मारनेवाले हैं।

जीव- इस हृदयमान प्रचञ्च में ईश्वर के अतिरिक्त एक दूसरी चेतन अनादिसत्ता जीव है, जो सृष्टि का निर्माण नहीं करती, ईश्वरीय नियमों के अन्तर्गत जिसके कर्म करने और (कृतकर्मों के फल) भोग के निमित्त इस सृष्टि का निर्माण होता है। ये अनेक हैं।

जीव परिच्छिन्न एकदेशीय अत्यन्त सूक्ष्म परिमाण अविनाशी और स्वभाव से पवित्र है। यह अज, नित्य, शाश्वत है, अल्प सामर्थ्य वाला और अल्पज्ञान वाला है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, ज्ञान, प्रयत्न इसके लिंग (चिन्ह) हैं। यह कर्मफल अर्थात् अपने किये शुभाशुभ कर्मों को सुख-दुःख के रूप में अनिवार्य रूप से, न न्यून न अधिक, भोगता है। वह इच्छा शक्ति वाला है अर्थात् कर्म करने में स्वतन्त्र और फल भोगने में परमेश्वर की व्यवस्था से परतन्त्र है।

प्रकृति- इस दृश्मान प्रपञ्च (जड़ जगत् अर्थात् सूर्य-चन्द्र-भूमि-नक्षत्रादि, वृक्ष-वनस्पति आदि और पिपीलिका से लेकर मनुष्य-हस्ति पर्यन्त प्राणियों के शरीरों) का मूल उपादान कारण 'प्रकृति' है, जो अनादि है, अज है, परन्तु इसका रूप बदलता रहता है। यह सूक्ष्म अनादि सत्य और परमाणुरूप है। ये परमाणु जड़ उत्पत्ति, विनाशरहित, निरवयव और नित्य हैं। नाना और असंख्यात हैं। इनके परिणाम अर्थात् संयोग विभाग के द्वारा पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आदि पञ्चभूत उत्पन्न होते हैं, जीवों के शरीर फिर इन भूतों से निर्मित होते हैं। यह प्रकृति त्रिगुणात्मिका अर्थात् सत्व (शुद्धता, तेज, प्रकाश), रज (मध्यभाव, गति, तरलता) और तमः (जड़ता, घनता, स्थिति, स्थूलता) इन तीनों का संघात है।

त्रैतवाद- यह जगत्रूप खेल-तमाशा (जगत् व्यापार, सृष्टि विलास) इन तीन कारण से होता है। यह यों ही एक गोरखधन्धा अर्थात् न सुलझनेवाली समस्या नहीं। यदि इनमें से एक को भी निकाल दें, तो यह विशाल ब्रह्माण्ड कभी न बन सके। यदि सृष्टि से पूर्व ईश्वर के बिना अन्य कोई वस्तु न होती तो यह कहां से बनता?

सृष्टि की रचना देखने से जीव में जगत् बनाने का और जड़ प्रकृति में अपने आप यथायोग्य बीजादि स्वरूप बनने का सामर्थ्य न होने से सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर अवश्य है। जगत् का कर्त्ता न मानना और जगत् को स्वयंसिद्ध कहना आर्यसमाज की दृष्टि में युक्तियुक्त नहीं। क्या बिना कर्त्ता के कोई कर्म, कर्म के बिना कोई कार्य जगत् में होता हुआ दीखता है?

सृष्टि की रचना देखने से और जड़ पदार्थों में स्वयमेव यथायोग्य भोक्ता होने का सामर्थ्य तथा सृष्टिकर्त्ता के भी स्वयं भोक्ता न होने से सृष्टि का भोक्ता कोई जीव है, जिसके निमित्त से सृष्टि का निर्माण होता है।

सृष्टि की रचना देखने से और चेतनशक्ति के जड़ जगत् रूप में परिवर्तित होने का सामर्थ्य न होने से इसका कोई उपादान कारण मानना पड़ता है, जो प्रकृति है।

यह विश्व जड़-चेतन दोनों का मेल है, इसलिए किसी एक तत्त्व जड़ या चेतन का रूपान्तर नहीं हो सकता।

यह सृष्टि 'कार्य' है। कार्य बिना कर्त्ता के हो नहीं सकता। क्योंकि जीव नहीं बना सकता, इसलिये जीव से भिन्न "क्लेशकर्म विपाकाशय से अपरामृष्ट" और ज्ञान की अतिशयता वाला ईश्वर ही उसका कर्त्ता है। कोई भी कर्त्ता बिना किसी साधन सामग्री उपादान सामग्री के कार्य नहीं बना सकता अर्थात् प्रत्येक कार्य का कारण होना चाहिये। वह कारण प्रकृति है। कोई ऐसा भी होना चाहिये, जिसके निमित्त या प्रयोजन के लिये हो, वह जीव है। इन तीनों की सत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता।

ईश्वर का कर्म सृष्टि करना है। प्रकृति का कार्य सृष्टि रूप में परिवर्तित होना है और जीव का धर्म सृष्टि में आकर कर्म करना और भोग करना है। 'सृष्टि का होना' 'सृष्टि का करना' और 'सृष्टि का भोगना' - ये तीनों एक दूसरे से सम्बद्ध होते हुए भी निरपेक्ष हैं। क्योंकि यह संसार है, इसलिये जीव शुभाशुभ कर्म करके सुख-दुःखात्मक फल भोगता है, यदि संसार (जन्म-मरण) न हों, तो जीव को न दुःख भोगना पड़े और न कर्म करना पड़े। इसी प्रकार जब जीव कर्म न करे, तो संसार बनने का हेतु न रहे, और फिर परमेश्वर संसार को भी न बनावे।

इस प्रकार ये एक-दूसरे के आश्रित या सम्बद्ध तो दीखते हैं, परन्तु एक-दूसरे के हेतु या कारणभूत या एक-दूसरे की अपेक्षा से नहीं होते, ये तो सहज होते हैं। ईश्वर का 'सृष्टि करना' सहज कर्म और जीव 'इच्छा ज्ञान प्रयत्नशील' होने से उसका आवागमन होता ही रहेगा। वह सृष्टि करता ही रहता है, प्रकृति सृष्टि रूप में परिणत होती ही रहती है और जीव कर्म करता और फल भोगता ही रहेगा। इसलिये 'सृष्टि प्रलय का चक्र कभी न शुरू हुआ और न कभी समाप्त होगा।

इस ब्रह्माण्ड की रचना व इसकी अवयवभूत सभी वस्तुएं सूर्य-चन्द्र, पृथिवी, ग्रह, नक्षत्र आदि नियम से चलते हैं। संसार में ऐसी कोई चीज़ नहीं, जिसे जादू और ऐसी कोई घटना नहीं, जिसे मोजज़ा या चमत्कार कह सकें। सब घटनायें सृष्टि-नियमों के अनुकूल ही होती हैं। ये सृष्टि-नियम कभी बदलते नहीं, सदा एक से रहते हैं। ब्रह्माण्ड में होने वाली घटनायें 'कार्य-कारणभाव' से घटित होती हैं। इस कार्य-कारण के सम्बन्ध को ठीक से न जाननेवालों को ही यह जादू या लीला प्रतीत होती हैं।

आवागमन-

इस सृष्टि में आना-जाना, बार-बार जन्म लेना। आर्य विचार-श्रृंखला में यह सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्व का है। आर्यदर्शन को जो सर्वोच्च स्थान विश्वदर्शन में प्राप्त हुआ है, उसका कारण यह 'आवागमन' का सिद्धान्त भी है। मनुष्य का यही जन्म आदि या अन्तिम नहीं। मनुष्य क्या है? दृश्मान शरीर जिसका कारण प्रकृति है, यह जड़ है और भोग का आधार है। इसके अन्दर एक और शक्ति है, जिसे जीव कहते हैं। इन दोनों के मेल का नाम पुरुष है। यह देह बदलती रहती है, इसके अन्दर का आत्मा 'अज-नित्य-शाश्वत' है। इस देह में परिवर्तन का नाम 'पुनर्जन्म' है। जीवात्मा अपने कर्मों के फल भोग के निमित्त नाना जन्म लेता रहता है, अनेक योनियों के निमित्त आता-जाता रहता है। यह कुदरत की लहर नहीं, जन्म-जन्मान्तर में आवागमन का कारण जीव के अपने कर्म ही हैं।

इस संसार में सुखी-दुःखी धनी-निर्धन, निर्बल-सबल और विद्वान् मूर्ख रूप से दृष्टिगोचर होने वाले वैषम्य का कारण जीवों के भिन्न-भिन्न कर्म ही हैं, ईश्वर की निरंकुश इच्छा नहीं।

कर्म-सिद्धान्त -

बिना कर्म किये कोई भी प्राणी एक क्षण जीवित नहीं रह सकता। कुछ प्राणी बन्धन में पड़े से परतन्त्रता से कर्म करते प्रतीत होते हैं, मनुष्य उन्मुक्त-सा स्वतन्त्रता से बुद्धिपूर्वक कर्म करता दीखता है। यही 'कर्म-सिद्धान्त' का मूल परमाणु है, जिसके आधार पर कर्म-सिद्धान्त विकसित हुआ है।

दूसरे कुछ इन्द्रियों के सहज कर्म हैं। जैसे आँख का झपकना, कान में सुनाई पड़ना, जिह्वा में स्वाद आना आदि। कर्म-सिद्धान्त में इनका विचार नहीं, परन्तु इन्द्रियों के एक इरादे विशेष से किये गये कर्मों और उनके फलों के भोग की ही विवेचना होती है।

जीव को जैसा वह कर्म करता है वैसा फल (अर्थात् उसके शुभाशुभ कर्म का सुख-दुःखात्मक फल न न्यून न अधिक अवश्यमेव भोगना पड़ता है।

ईश्वर पापों को क्षमा नहीं करता और न कोई सिफारिश करके पापों को क्षमा करवा सकता है। साधु-सन्तों का संग, उत्तमाचरण और ईश्वर-पूजा से पाप की वासनाओं का क्षय अवश्य हो जाता है।

प्रत्येक कर्म का उद्दिष्ट फल तत्काल मिले, ऐसा नियम नहीं। जिन कर्मों का फल इस जन्म में नहीं मिलता, उसके फलों के भोग के लिए ही 'देहान्तरप्राप्तिः धीरस्तत्र न मुह्यति'। अगर पुनर्जन्म न मानें, तो कर्म व्यवस्था (अर्थात् परमेश्वर के न्याय और सत्यनियम) भंग हो जावे और कर्मचक्र न मानें तो संसार में उपलब्ध विषमता का युक्ति-तर्क संगत समाधान भी न मिले। त्रैतवाद, आवागमन और कर्म-सिद्धान्त मानने पर ही प्रपञ्च-रहस्य की गुत्थी खुलती है। विज्ञान कार्य-कारण और कृत-कार्य का नियम माने और इन सिद्धान्तों से इन्कार करें, यह अदार्शनिकता है, अवैज्ञानिकता है।

ज्ञान का आदिस्रोत -

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि सृष्टि के आदि में उत्पन्न मनुष्यों को परमेश्वर ने ज्ञान दिया। जो परमेश्वर अपनी वेद-विद्या का उपदेश मनुष्यों के लिये न करता, तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि किसी को यथावत् प्राप्त न होती, उसके बिना परम आनन्द भी किसी को न होता।

जैसे उस परम कृपालु ईश्वर ने प्रजा के सुख के लिये कन्दमूल और घास आदि छोटे-छोटे पदार्थ रचे हैं, वैसे ही सब सुखों का प्रकाश करने वाली सब सत्य विद्याओं से युक्त वेद विद्या का उपदेश भी प्रजा के सुख के लिये वह सृष्टि के प्रारम्भ में क्यों न करता?

इनका ज्ञान सृष्टि के प्रारम्भ में अयोनिज सृष्टि में जन्म लेने वाले उन चार पवित्रात्मा ऋषियों के हृदयों में प्रकाशित किया, जो सबसे श्रेष्ठ, विद्वान् और धर्मात्मा थे तथा इस ज्ञान को ग्रहण करने की योग्यता रखते थे।

अग्नि ऋषि को ऋग्वेद।
वायु ऋषि को यजुर्वेद।
आदित्य ऋषि को सामवेद।
अंगिरा ऋषि को अथर्ववेद।

इन्होंने वेदों के ज्ञान का अन्य ऋषियों और मनुष्यों को उपदेश दिया। आर्यसमाज-ऋग्, यजु:, साम, अथर्व नाम से प्रसिद्ध सत्य विद्या युक्त वेद-चतुष्टम (संहितामात्र मन्त्रभाग) को निर्भ्रान्त स्वतःप्रमाण मानता है। इनके प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं। सूर्य व प्रदीप के स्वरूपतः स्वतः प्रकाशक व अन्य पृथिव्यादि पदार्थों के प्रकाशक होने की तरह वेद स्वयं प्रमाणरूप हैं। ये अपौरुषेय हैं।

क्योंकि -

वेद ही अपौरुषेय क्यों?-

(1) उनमें प्रतिपादित सब सिद्धान्त सार्वभौम सार्वजनिक और सार्वकालिक हैं। वे किसी देशकाल-विशेष में मानवजाति के किसी विशिष्ट समुदाय के निमित्त प्रकाशित नहीं किये गये।

(2) मनुष्य के सर्वतोमुखी विकास के साधनों के द्योतक हैं।

(3) इनमें वर्णित कोई भी सिद्धान्त बुद्धि-विज्ञान व अनुभव के विरुद्ध नहीं। ये पक्षपात शून्य भ्रान्तिरहित ज्ञान का प्रतिपादन करते हैं।

(4) इनमें सृष्टिक्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाण, आप्त और पवित्रात्मा के व्यवहार से विरुद्ध कोई कथन नहीं।

(5) इनमें ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल ही वर्णन हैं।

(6) सृष्टि के आरम्भ से लेके आज तक ब्रह्मा, मनु, जैमिनी, शंकर, दयानन्द आदि जितने भी आप्त होते आए हैं, वे सब वेदों को नित्य, प्रामाणिक और सर्वसत्य विद्यामय मानते आये हैं।

सबसे अधिक प्रमाणिक मानने योग्य मानव-जाति के धर्मशास्त्र और विद्यापुस्तक ये चार वेद ही हैं, इनसे विरुद्ध वचन चाहे किसी भी पुस्तक में पाये जायें, वे मानने योग्य नहीं हो सकते। इनकी शिक्षाओं पर आचरण करना मनुष्य-मात्र का परम कर्त्तव्य है।

पहले संसार में सर्वत्र एक वेदमत (=वेद प्रतिपादित धर्म, श्रौतपन्था, सतां मार्ग) ही था, इसी के आधार पर मानवजाति के आदिम आर्य ऋषि मुनियों ने 'आर्यदर्शन' का विकास किया था, जीवन को अभ्युदय निःश्रेयस् के लिये आर्यसंस्कृति की कल्पना की थी।

मौलिक अधिकार=सर्वोदय-

शरीर रचना और समानप्रसव की दृष्टि से सब मनुष्य जन्म से समान हैं, न कोई बड़ा है, न छोटा। मनुष्यत्व की दृष्टि से सब समान हैं, परन्तु क्योंकि प्रत्येक जीव मनुष्ययोनि में आने वालों के गुण-कर्म-स्वभाव और देश-काल-स्थिति भिन्न-भिन्न होती है, इसलिये उनके पद और योग्यता में भेद पड़ जाता है। जीव अपने कर्मों के कारण भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में जन्म पाता है- प्रत्येक का प्रारब्ध भिन्न होता है, अतः जन्म से ही भिन्न-भिन्न सामर्थ्य रुचि स्वभाव व भोग वाला होता है।

क्योंकि ईश्वर हमारा माता-पिता-सखा-बन्धु है, इसलिये हम सबको मिलकर अपनी अभिवृद्धि करनी चाहिये। अभ्युदय निःश्रेयस् की सिद्धि में सबको समान अवसर मिलना चाहिये। मनुष्य को प्राणीमात्र के साथ प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तने की शिक्षा देकर ऋषि दयानन्द अपने से पूर्वकालीन युगपुरुषों से एक कदम आगे और भविष्यकालीन महापुरुषों के पथ-प्रदर्शक से रूप में माने जावेंगे।

स्त्री-पुरुष को उनके नैसर्गिक भेद के कारण पैदा हुई विषमता को छोड़कर अन्य सब आहार-विहार आदि कार्यों में समानाधिकार है। सांधिक दृष्टि से इनके नागरिक व आर्थिक अधिकारों में कोई भेद नहीं। कोई किसी का दास या दासी नहीं है। स्त्रियां पढ़ सकती हैं, कृषि शिल्प व्यापार चला सकती हैं, समय आने पर युद्धों तक में भाग ले सकती हैं और उपदेश दे सकती हैं, शासन कार्य चला सकती हैं। आर्यसमाज की दृष्टि में स्त्रियों का विशेष आदर करना चाहिये।

व्यावहारिक पथ-प्रदर्शक-

आर्यसमाज मनुष्य के सम्पूर्ण विकास के लिए उसका 'सर्वांगीण वैयक्तिक विकास' और जिस समाज में यह रहता है उसकी 'चतुर्मुख उन्नति' का मार्ग बताता है। 'सर्वांगीण वैयक्तिक विकास' अर्थात् शारीरिक उन्नति के आसन, प्राणायामादि योगपद्धति का प्रचार, मांस-शराब मादक द्रव्य सिगरेट आदि के पान का तीव्र निषेध करता है। ब्रह्मचर्य पालन में अधिक जोर देता है, व्यक्ति के लिये 'पञ्चमहायज्ञ' रूपी दैनिक प्रोग्राम तथा 'षोडश संस्कार' रूपी जीवन-व्यापी प्रोग्राम निर्धारित करता है।

पञ्चमहायज्ञ-दैनिकाभ्युदय योजना -

(1) ब्रह्मयज्ञ - योगाभ्यास, आत्मचिन्तन, ईश्वरोपासना (सन्ध्यावन्दन) और वेद-स्वाध्याय द्वारा अन्तःकरण शुद्धि। इससे विद्या, शिक्षा, धर्म, शिष्टाचार आदि शुभ गुणों की वृद्धि होती है।

(2) देवयज्ञ - आसन, प्राणायामादि द्वारा अपनी सब इन्द्रियों को स्वस्थ सुदृढ़ बनाना। अग्निहोत्र द्वारा वायु शुद्धि करके गृहों को स्वास्थ्यकर रखना, अर्थात् शारीरिक उन्नति। इससे आरोग्य बुद्धि बल पराक्रम बढ़ा के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के अनुष्ठान की योग्यता और सामर्थ्य बढ़ाना।

(3) पितृयज्ञ - जीवित माता-पिता वृद्ध कुटुम्बियों की अन्न-पान वस्त्ररक्षण द्वारा सेवा करना। इससे ज्ञान सदाचार और कृतज्ञताभाव की वृद्धि होती है।

(4) अतिथियज्ञ- धार्मिक, परोपकारी, सत्योपदेशक, साधु-संन्यासियों के अन्न, वस्त्र, निवास, रक्षण की समुचित व्यवस्था करना। इससे पाखण्ड विनाश सत्यविज्ञान की प्राप्ति और धर्म प्राचार होता है।

(5) बलिवैश्वदेवयज्ञ- चींटी, गाय कुत्ता आदि जीव-जन्तुओं तथा निर्धन निःसहाय निराश्रित जनों का यथायोग्य पालन-पोषण करना। इससे प्राणिमात्र में समदृष्टि और परोपकार भावना की वृद्धि होती है।

व्यक्ति समाज के साथ कैसे बरते, इसका उपाय पञ्च-महायज्ञ विधि है। इसमें स्वार्थ और परार्थ का सुन्दर समन्वय दिखाया गया है। प्रथम दो मन्त्र व्यक्ति के शारीरिक मानसिक (बौद्धिक, आत्मिक) उन्नति के साधक हैं, शेष तीन सामाजिक हित के त्यागभाग सिखाते हैं। जिन्होंने विद्या-दान दिया, सदाचार सिखाया, उनकी सेवा और शेष प्राणिमात्र की सेवा।

संस्कार-शतवर्षीय योजना-

प्राचीन आर्य ऋषि-मुनियों ने जीवन की हर एक दिशा में सुनियोजित व्यवस्था की थी। समस्त जीवन-भर मनुष्य क्रम से उन्नति करता जाये। जन्म से मरण पर्यन्त वह विकसता जाये। इसके लिये उन्होंने संस्कार पद्धति की योजना बनाई। गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त सोलह संस्कार हैं, जो मनुष्य की सम्पूर्ण आयु में फैले हुए हैं। इनका उद्देश्य गर्भ समय से मृत्यु पर्यन्त मनुष्य शरीर, मन और आत्मा को बलवान् बनाना तथा उन पर उत्तम संस्कार डालना है। संस्कारों द्वारा शरीर और मन सुसंस्कृत होने से -धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, का अनुष्ठान सरलता से हो सकता है। इसलिये संस्कारों का विधिवत् अनुष्ठान स्त्री-पुरुष भेद के

बिना सबको करना उचित है।

वर्णाश्रम व्यवस्था –

आर्यसमाज 'चतुर्मुखी सामाजिक अभ्युदय' (संघ-सौष्ठव) के लिए वेदानुकूल 'वर्णाश्रम की व्यवस्था' को आवश्यक मानता है। वर्णाश्रम व्यवस्था ही एक ऐसी व्यवस्था है, जो समाज में सब व्यक्तियों को 'परहित' का ध्यान रखते हुए 'स्वहित' का सर्वोत्तम समान अवसर दे सकती है। मानव-समाज में प्रचलित देश-जाति-सम्प्रदाय आदि का भेद कृत्रिम और सर्वोदय में बाधक है।

मानव-जीवन को पूर्णतः सफल करने के लिए मनुष्य की आयु को चार भागों में विभक्त किया गया है, जिनमें परिश्रमपूर्वक उत्तम गुणों का ग्रहण और श्रेष्ठ काम किये जाते हैं।

शारीरिक बल, बौद्धिक उन्नति और आत्मिक विकास के लिए 'ब्रह्मचर्याश्रम' है।

शरीर, मन, आत्मा की शक्तियों के व्यावहारिक प्रयोग अर्थात् उत्तम सन्तान पैदा करने, आजीविका सम्पादन करने और सामाजिक कर्तव्यों का धर्मानुसार पालन करने के लिये 'गृहस्थाश्रम' है।

तप, स्वाध्याय द्वारा क्षीण शक्तियों के संग्रह और मानसिक, आत्मिक शक्तियों को समुन्नत करने के लिए 'वानप्रस्थाश्रम' है।

परहित और ब्रह्मोपासना के लिए 'संन्यासाश्रम' है।

गृहस्थाश्रम में प्रवेश का अभिप्राय है, स्त्री-पुरुषों का मिलकर सन्तानोत्पादन करना, आजीविका सम्पादन अर्थात् अर्थ-काम का सम्पादन करना। दो आत्माओं के मिलन के निमित्त विवाह एक पवित्र धार्मिक सम्बन्ध है, जो कि मानवजाति के सर्वविध सामाजिक आर्थिक नागरिक जीवन का मुख्य आधार है और आदर्श है। यह स्वेच्छाहार-विहार के निमित्त किया गया कॉन्ट्रेक्ट (नियत-काल-सम्बन्ध) नहीं।

विवाह माता-पिता के परामर्श (चुनाव, ढूंढ़, सलाह), समाज (सोसायटी, विश्वेदेवाः) की अनुमति तथा वर-वधू की तदर्थ सहमति (स्वीकृति, स्वयंवरण) के आधार पर प्रसन्नता पूर्वक किया जाना चाहिए।

पति-पत्नी में से किसी एक के मर जाने पर अथवा दोनों के जीवित होने पर किसी कारण से जैसे नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों के कारण या आपात्काल में, सम्बन्ध योग्य न रहने की दशा में सन्तानोत्पादन के निमित्त समान गुण, कर्म, स्वभाव स्थिति वाले विवाहित स्त्री-पुरुषों में राज-व्यवस्थानुसार नियमपूर्वक पुनः सम्बन्ध अर्थात् धर्मानुसार नियोग हो सकता है।

वर्त्तमान परिस्थिति में वेदोक्त राज्य पद्धति न होने के कारण आर्यसमाज 'विधवा-विवाह' को भी स्वीकार करता है।

उक्त समाज की सुरीत्या संगठित अखण्ड बनाये रखने, सबके लिए समान अवसर दिये जाने के भाव को कार्यरूप देने और सबके लिए जीविका-उपलब्धि का सदुपाय कराने के लिये आर्य-ऋषियों द्वारा निर्मित श्रम-विभाग रूप सुन्दर विधान का नाम 'वर्ण-व्यवस्था' है। यह पूर्ण वैज्ञानिक पद्धति है।

प्रत्येक व्यक्ति से उसके सामर्थ्य और गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार अनिवार्य रूप में कार्य लेने और काम के अनुसार जीवनोचित पारिश्रमिक देने की व्यवस्था के लिये ही 'वर्ण-विभाग' है। इसलिये विद्यारम्भ करने से लेकर विद्या-समाप्ति तक बालक की योग्यता को देखकर जब वह स्वतन्त्र आजीविका व गृहस्थ जीवन प्रारम्भ करता है उस समय प्रत्येक का वर्ण नियत किया जाता है। और –

जब तक मनुष्य गृहस्थाश्रम में रहता हुआ, आजीविका सम्पादन करता है, तभी तक यह वर्ण-विभाग रहता है। वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम में गये हुओं का कोई वर्ण नहीं होता। वर्णों का यह विभाग केवल लोक सम्बन्धी कर्मों से होता है। परलोक सम्बन्धी कर्म वेदाध्ययन, यज्ञ, दान-धर्म और जप-तप आदि अनुष्ठान सबके लिये एक जैसे हैं, इनमें किसी प्रकार का भेद नहीं।

(1) जो उत्तम विद्या प्राप्त करके, चरित्रवान् होता हुआ राष्ट्र सन्तति को ज्ञान प्रदान करके मानव समाज की सेवा करे उसे 'ब्राह्मण' कहते हैं। यह प्रजा में मानवधर्म, नीति, सदाचार, संस्कृति-सभ्यता का प्रचार करता है। यह राष्ट्र-धर्म, राष्ट्रीय-चेतना, राष्ट्र-संस्कृति को विकसाता है।

(2) जो उत्तम विद्या प्राप्त करके, चरित्रवान् होता हुआ, संकट काल में मनुष्यों की रक्षा और संकट सामग्री का विनाश करे, उसे 'क्षत्रिय' कहते हैं। यह राष्ट्र-शक्ति को विकसाता है।

(3) जो उत्तम विद्या को प्राप्त करके, चरित्रवान् होता हुआ कृषि-कर्म, व्यापार आदि से धन-धान्य आदि का संग्रहज करे समाज को समृद्ध करे, उसे 'वैश्य' कहते हैं। यह राष्ट्रधन को विकसाता है।

निःश्रेयस्-प्राप्ति –

सृष्टि में जीव स्वतन्त्रतापूर्वक जैसा शुभाशुभ कर्म करता है, उसको तदनुसार सुख-दुःखात्मक फल भोगने के लिये वैसे ही योनि (शरीर, जन्म, देहान्तरप्राप्ति) अर्थात् पुण्य कर्म से उत्तम जन्म और पाप कर्म से निकृष्ट जन्म मिलता है। इस प्रकार कृमि, कीट, मत्स्य, पिपीलिका, मण्डूक, पतंग, मधुमक्खी आदि (तथा स्थावर वृक्षादि) रूप में तथा मानवरूप में जन्म लेकर इस सृष्टि में अपना 'अच्छा-बुरा' व्यापार करता है।

मनुष्य जन्म में वह युक्ति और ज्ञानसहित पुरुषार्थ करकके अनुकूल (-शुभ) तथा अज्ञानपूर्वक आचारण से प्रतिकुल (-अशुभ) परिस्थिति बनाता है। इस प्रकार अपना जीवनचक्र चलाते हुए वह अपने पिछले कर्मों का फल भोगता और आगे के लिये नये कर्म स्वतन्त्रता पूर्वक करता है और पाप-पुण्य से सुख-दुःख उठाता रहता है। परन्तु उसका चरम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति है।

जब तक वह पाप-दुःख से छूट नहीं जाता, तब तक उसे अपने पुण्यों का फलरूप उत्तम सुख प्राप्त नहीं हो सकता। जीव को पाप-कर्म और पाप-कामना दोनों से मुक्त होना चाहिये, तभी दुःख से अत्यन्त निवृत्ति होगी।

ऊपर वर्णित 'आर्य-सिद्धान्त' उसे इस दिशा में ले जाने के सर्वोत्तम साधन हैं।

पञ्च महायज्ञ, षोडश-संस्कार और वर्णाश्रम-व्यवस्था – ऐसी पद्धतियां हैं, जिनसे मनुष्य की पाप-कर्म में प्रवृत्ति घटती जाती है, पाप-वासना का क्षय होता जाता है और वह अपनी शारीरिक मानसिक उन्नति कर लेता है।

पाप कर्म न रहने से उसके दुःख समाप्त होते जाते हैं और प्रारब्ध से नियत दुःखों का अन्त हो जाता है। उसके कर्म पुण्यात्मक हो जाने से, आगामी जीवन के लिए सुख का मार्ग खुल जाता है।

दुःख और पाप –

त्रिविध दुःख – शरीर और मन सम्बन्धी (आधि-व्याधि) दुःख 'आध्यात्मिक' हैं। जैसे-ज्वर, शिरोवेदना, अतिसार, अर्धांग आदि शारीरिक और ईर्ष्या द्वेष, क्रोध, अधैर्य, चिन्ता आदि मानसिक। दूसरे प्राणियों से होने वाले सभी दुःख 'आधिभौतिक' है, जैसे सांप का काटना, शत्रु का आक्रमण, टिड्डी दल का आक्रमण, मूषक मार्जार कृत, चोरी हो जाना, किसी का झूठा मुकद्दमा चलाना, अपवाद लगाना आदि आदि। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, अग्निभय, अतिताप, अकाल, विद्युत्पात आदि 'आधिदैविक' हैं। इन्हीं को तापत्रय वा दुःखत्रय भी शास्त्रों में कहते हैं। इन सब दुःखों का कारण अविद्या होती है।

दशधा पाप – मनुष्य शरीर, वाणी और मन से पाप करना है। हिंसा (प्राणघात), चोरी और व्यभिचार (परस्त्रीगमन, परपुरुष-गमन), ये तीनों कायिक (शारीरिक) पाप हैं। असत्प्रलाप (असम्बद्ध भाषण, झूठी बकवास), कटुभाषण (व्यंग्य, गालीगलौज), चुगली करना और असत्य-भाषण-ये चारों वाचिक पाप हैं। पर-धन की अभीप्सा, दूसरे से द्वेष करना, नास्तिकता (कर्मफल न मानना) – ये तीनों मानसिक पाप हैं। इस प्रकार दशधा पाप की प्रवृत्ति होती है।

जीव जब निर्हेतुकभाव (निष्काम भाव या केवल कर्त्तव्य बुद्धि से) पुण्यकर्म करते-करते आत्मज्ञानयुक्त उच्चतम अवस्था (तद्धाम परमं पदम) तक पहुंच जाता है, तब वह मुक्त (द्वन्द्वातीत, निस्त्रैण्य, दुःखनिवृत्त, पापरहित) हो जाता है। उस समय वह भौतिक शरीररहित दशा में (ज्ञान व आनन्दपूर्वक) स्वतन्त्र विचरता हुआ नियत समय परान्तकाल तक ईश्वर के आनन्द में ही मग्न रहता है। उस समय तक उसे लवलेश भी दुःख कणिक नहीं चुभती।

मुक्ति में जीव परमेश्वर में लीन (एक नहीं) हो जाता है, परन्तु वह जीव अपने शुद्ध स्वरूप में विद्यमान रह ब्रह्म से पृथक् रहता हुआ विज्ञान आनन्दपूर्वक उसमें स्वतन्त्रता से दुख ही सुख भोगता है, अपनी सत्ता खो नहीं बैठता। जीव के नाश को मुक्ति समझना अशुद्ध है।

नियत समय पर्यन्त इस मुक्ति सुख को भोग, जब मुक्ति की अवधि पूरी हो जाती है, तब वहां से छूटकर पुनः माता-पिता के सम्बन्ध से

साधारण मनुष्यों का शरीर धारण कर संसार में आता है। इस शरीर में यदि वह पुनः निर्हेतुक पुण्यकर्म करता है तो फिर मुक्त हो जाता है। और यदि सहेतुक बुरे कर्म करता है, तो नीचे की योनियों में जाने का चक्र आरम्भ हो जाता है।

मुक्ति के साधन –

इस जन्म-मरण के बन्धन से छूट मुक्त (पूर्णरूप से स्वतन्त्र) होने का तथा परमानन्द की प्राप्ति का एकमात्र उपाय सदाचारपूर्ण यम-नियमादि युक्त योगाभ्यास तथा ईश्वर स्तुति-प्रार्थनोपासना है। इसके लिये अनिवार्य रूप में व्यक्ति विशेष को गुरु पैगम्बर मानकर उसकी पूजा और किसी पुस्तक विशेष में विश्वास करना अनावश्यक और निरर्थक है।

आर्य, आर्यसमाज, आर्यसमाजी –

ऋषि दयानन्द ने जिस 'आर्यदर्शन' का मानव-जाति के अभ्युदय-निःश्रेयस् के लिये अपने ग्रन्थों में प्रतिपादन किया है, संक्षेप में उसकी रूपरेखा का पर्णन किया गया है।

'आर्यसिद्धान्त' वेद धर्म के विस्तृत रूप (व्यवहारिकरूप) के अतिरिक्त कुछ नहीं। उनको माननेवाला 'आर्य' है। ऐसे आर्य जब संगठित होकर इसको प्रचार करने का संगठित प्रयत्न करते हैं, तो उस संगठन का नाम 'आर्यसमाज' होता है। परन्तु जो भी व्यक्ति इन सिद्धान्तों का अपने जीवन का दर्शन और वैदिकधर्म को अपने जीवन का आदर्श मानता है, वह 'आर्य' है। उसके लिये भी मुक्ति का द्वार खुला हुआ है।

आर्यसमाज का सदस्य बनने के लिये आर्यसमाज के दस नियमों, महर्षि दयानन्द के स्वमन्तव्यामन्तव्य में वर्णित 51 (इक्वायन) सिद्धान्तों तथा आर्योद्देश्यरत्नमाला के मन्तव्यों में विश्वास और वेदों में वर्णित महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए तदनुकूल आचरण आवश्यक है।

'आर्य-सिद्धान्त' किसी व्यक्ति के मस्तिष्क की उपज नहीं: इसलिये ये 'मत-सम्प्रदाय नहीं। ये तो वेदधर्म रूपी पुष्प की क्रमबद्ध पंखुड़ियां हैं, जिनकी सुमधुर वासना से पाप और दुःख की दुर्गन्ध कट जाती है।

सत्यं शरणं गच्छ। धर्म शरणं गच्छ।
विन्दस्व आत्मानाम्।।

वार्षिक चुनाव सम्पन्न

दिनांक 28.04.2013 को आर्य समाज मन्दिर बी-2, जनकपुरी, नई दिल्ली-58 के वर्ष 2013-14 के चुनाव सम्पन्न हुए, जिसमें निम्नलिखित पदाधिकारी चुने गयेः

1. प्रधान : श्री कृष्ण बवेजा जी
2. मंत्री : मुनी जगदीश चन्द्र गुचारी
3. कोषाध्यक्ष : श्री यश पाल आर्य जी

– शेष पृष्ठ 3 का...

व्यक्त सृष्टि में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि ईश्वर के ध्यान का उन्हें होश ही नहीं रहता। अपने इन रूपों में "असम्भूति" या "सम्भूति" दोनों ही अन्धकार की ओर ले जाती हैं, प्रकाश, ज्योति या ब्रह्मज्ञान की ओर नहीं, किन्तु यदि मनुष्य सम्भूति एवं असम्भूति दोनों को उनके वास्तविक रूप में जान ले तथा व्यक्त सृष्टि के पदार्थों एवं शरीर, इन्द्रियों, अन्तःकरणादि (सम्भूति) का सदुपयोग धर्माचरण में करे तो मृत्यु के भय एवं दुःख को पार कर वह मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। तीन मंत्रों में लगातार "असम्भूति" और "सम्भूति" की चर्चा करते हुए वेद भगवान में यह संकेत किया गया है कि इन शब्दों का सम्बन्ध असम्भव और सम्भव शब्दों से है तथा "असम्भूति" के लिए "विनाश" शब्द का प्रयोग भी किया गया है। "असम्भूति" कारण है तो "सम्भूति" कार्य तथा कार्यकारण सम्बन्ध को भली प्रकार जानकर यह समझना चाहिए कि कार्य रूप में व्यक्त इस सृष्टि के पदार्थों एवं शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण के सदुपयोग के द्वारा, मृत्यु-भय को छोड़ कर, सद्विद्या एवं तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिए स्वयं को अमर मानकर और नश्वर शरीर की चिन्ता न करते हुए ही मनुष्य मोक्ष की ओर बढ़ सकता है तथा अपने शुभ कर्मों और पुरूषार्थ से मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। मोक्ष की कामना करने वाला साधक सब प्राणियों में उस आत्म-तत्व का दर्शन करे और सबसे आत्मवत् व्यवहार करे अर्थात् वह किसी प्राणी को नुकसान न पहुंचाते हुए सबका हित साधन करे सब प्राणियों को अपनी आत्मा के समान जानकर धर्मपूर्वक व्यवहार करे। योगभ्यास द्वारा एक एवं अद्वितीय परमात्मा का साक्षात् दर्शन करने वाले ऐसे साधकों को शंका, मोह, शोक, लोभादि व्याप्त नहीं होते।

"ईशावास्योपनिषद्" के तीन मंत्रों में विद्या और अविद्या के विषय पर विचार किया गया है। अविद्या की उपासना करने वाले लोग गहन अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं अर्थात् वे अज्ञानी जन जो अनित्य को नित्य, अशुद्ध दुःख को सुख और शरीर को आत्मरूप में स्वीकार करते हैं तथा जड़ वस्तु की उपासना करते हैं, घोर अन्धकार में हैं। उनसे भी अधिक अन्धकार में वे अहमन्य (अहंकारी) तथाकथित विद्वान हैं, जिनके पास कोरा शब्दार्थ ज्ञान तो है, किन्तु जिनका आचरण वेदानुकूल नहीं हैं। ऐसी विद्या के उपासक, अहंकारी पण्डित तो और भी अधिक गहन अन्धकार में हैं। (कारण यह कि ब्रह्म विद्या का तात्विक ज्ञानी आचारवान एवं विनम्र होगा, उसकी कथनी-करनी एक होगी और उसका ज्ञान अनुभूतिगम्य एवं तलस्पर्शी होगा) पूर्वोक्त विद्या (कोरे शास्त्रज्ञान) का फल कुछ और है तथा अविद्या का फल कुछ और ही है, यह हम लोगों को जानना चाहिए तथा इनका सम्यक उपयोग करते हुए अविद्या एवं मृत्यु को पार कर विद्या (ब्रह्मविद्या, ब्रह्मज्ञान) के द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान कर अमरत्व को प्राप्त करें। कहने का अभिप्राय यह कि कोरे ज्ञान को छोड़ कर अध्यात्म विद्या, वेदानुकूल धर्माचरण एवं कथनी करनी की एकता के द्वारा हम ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकते हैं, परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त कर सकते हैं।

तत्व की बात यह है कि शरीर नित्य नहीं हैं, अजर अमर नहीं है, मृत्यु के उपरान्त इसे तो भस्म होना ही है तथा श्वांस रूप वायु को कारण रूप वायु में लीन हो जाना है सद्गति के लिए मरणासन्न जीव के लिए वेद का उपदेश है कि हे कर्म करने वाले जीव! तुम ओ३म् का स्मरण करो, अपनी सामर्थ्य, अपने स्वरूप का स्मरण करो तथा अपने कर्मों का स्मरण करो। मृत्यु के समय मनुष्य की ऐसी चित्तवृत्ति बने, इसके लिए यह आवश्यक है कि जीवन भर मनुष्य ओ३म् का स्मरण करे। अपने सामर्थ्य, अपने स्वरूप का स्मरण करे तथा अपने कर्मों का स्मरण करे। अपने वास्तविक स्वरूप को पहचाने तथा शुभ कर्मों को करते हुए योग से शरीर का परित्याग करे ताकि मृत्यु के समय "जीव" की उक्त वृत्ति बन सके। समझने की बात यह है कि किये हुए कर्म का फल तो भोगना ही पड़ता है, अतः अग्निस्वरूप, प्रकाशमान परमेश्वर से हम आजन्म यह प्रार्थना करते रहें कि वह हमें धर्ममार्ग पर चलाये तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करने की सामर्थ्य प्रदान करे, सत्य-धर्म के पालन की शक्ति दे कि जिस सत्य का मुख स्वर्णिम पात्र अर्थात् जागतिक प्रलोभनों से ढका है, सत्य ही ईश्वर है और ईश्वर ही सत्य है। वही सच्चिदानन्द हैं। ईश्वर हमें शक्ति दे कि हम सत्य के वास्तविक स्वरूप को पहचान कर सत्य धर्म का पालन करते हुए, आजन्म सच्चिदानन्द परमेश्वर की उपासना करते हुए, अपने शुभ कर्मों एवं योग साधना के द्वारा अन्ततः मोक्ष को प्राप्त करें।

निष्कर्म रूप में यह कहा जा सकता है कि ईश्वर को सर्वव्यापक जानते हुए उसके वास्तविक स्वरूप को पहचानें तथा त्यागपूर्वक संसार का भोग करें। विद्या-अविद्या, धर्मसत्याचरणादि में सदुपयोग के द्वारा सौ या उससे भी अधिक वर्षों तक जीवित रहने की इच्छा करते हुए मृत्यु को पार कर अमरत्व को प्राप्त करें। शरीर को अन्ततः भस्म होना है, इस सच्चाई को आजन्म "ओ३म्" नाम, अपने वास्तविक स्परूप और कर्मों का स्मरण करें तथा सत्य को जानने की चेष्टा करते हुये योग साधना से अन्ततः मोक्ष को प्राप्त करें।

आर्य समाज राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली- 60 का वार्षिक चुनाव 2013-2014

जिसमें निम्नलिखित पदाधिकारी चुने गयेः

1.	प्रधान :	अशोक सहगल जी
2.	मंत्री :	सतीश मैहता जी
3.	वरिष्ठ कार्यकारी मंत्री :	श्री नरेन्द्र वलेचा जी
4.	कोषाध्यक्ष :	श्री शतीश कुमार जी

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रवेश-सूचना

आधुनिक सुविधाओं सहित आवासीय विद्यालय (10+2) गुरुकुल कांगड़ी विद्यालय-विभाग हरिद्वार में सत्र 2013-14 हेतु कक्षा 01 से 9 व 11 तक प्रवेश प्रारम्भ।

वैदिक संस्कारों पर आधारित एन.सी.ई.आरटी. पाठयक्रम सभी आधुनिक विषयों के साथ छात्रों के सर्वांगीण विकास की शिक्षण संस्था।

विज्ञान वर्ग में पी.सी.एम. एवं पी.सी.बी. एवं वाणिज्य वर्ग तथा कला वर्ग हिन्दी एवं अंग्रेजी माध्यम

प्रवेश तिथि - 01 जुलाई 2013 से 29 जुलाई 2013 तक

अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करें –

सम्पर्क सूत्र - 9927016872, 9412025930, 9412024149, 9690679382, 9927084378

वेबसाइट : www.gurukulkangrividyalaya.org

R.N.I. No. 43084/76 Posting Date : 2-3 Every Month Delhi Postal R.No. DL (N) 060/2012-14

सेवा में,

शुद्धि समाचार

जून - 2013

86 ईसाई भाईयों ने स्वेच्छा से वैदिक हिन्दू धर्म स्वीकार किया

दिनांक 22.04.2012 ग्राम चन्देसी लवेदपुर, जनपद-बदायूं (उ.प्र.) के 11 परिवारों से कुल 86 (पुरुष, स्त्री व बच्चे) ईसाईयों ने स्वेच्छा से वैदिक धर्म स्वीकार किया। यह कार्यक्रम भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा के प्रचारक मटरु लाल द्वारा आयोजित किया गया।

यहां के लोग करीब 50 वर्ष पूर्व ग्राम खौंसरा स्थित चर्च के पादरी श्री बसन्त मसीह व सहसवान चर्च के पादरी हुलासी राम द्वारा ईसाई बनाया गये थे। इन चर्चों का संचालन कैथोलिक मिशन द्वारा किया जा रहा था। शुद्धि संस्कार श्री शेखर आर्य प्रचारक शुद्धि सभा द्वारा किया गया। शुद्धि संस्कार के पश्चात् यहां करीब 100 लोगों की भोजन व्यवस्था भी की गयी थी। यज्ञ वेदी पर बैठे श्री भुल्लन मसीह, रामचन्द, राजेश, शलीम आदि ने पत्नी सहित मिलकर आहुति दी तथा संकल्प लिया कि अब हम कभी ईसाई पादरियों के बहकावे में नहीं आयेंगे।

परिवर्तन नाम इस प्रकार रहे-

1. भुल्लन मसीह	भोले राम	2. मसीह चरन	शिवचरन
3. रोजी	राजकुमारी	4. लॉरेंश	लव कुमार

बाकी नाम पूर्ववत् रहे।

– मटरुलाल प्रचारक (भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा)

गुरुकुल आश्रम आमसेना की ओर से आग पीड़ितों को सहायता

कोरापुट जिले के बैपारीगुड़ा ब्लाक के माझीगुड़ा ग्राम में गत दिनों अचानक आग लग गई। फलस्वरूप घास-फूस के छत वाले दस-पन्द्रह घर जलकर स्वाहा हो गया। उन निर्धन आदिवासियों द्वारा संचित अन्न, धन, वस्त्र भी आग की भेंट हो गये। परिणामस्वरूप वे निर्धन लोग भूखे, प्यासे गली मे खड़े हो गए। जब इस दुर्घटना की सूचना गुरुकुल आमसेना में पहुंची तो गुरुकुल के निर्देश पर आदिम गुरुकुल कुत्दुली के आचार्य विनय जी तत्काल सहायता लेकर उन निर्धनों के पास पहुंचे। उन्होंने पीड़ित परिवारों को कम्बल, चादर आदि बांटे तथा प्रत्येक परिवार को 10 किलो चुड़ा और 10 किलो चावल प्रदान किया। फिर समय निकालकर गुरुकुल के संचालक स्वामी धर्मानन्द जी वहां पहुंचे। जिन्होंने नई धोती-साड़ी एवं पहनने के वस्त्र वितरित किए। वैसे यह स्थान गुरुकुल आश्रम आमसेना से लगभग 500 किलोमीटर दूर है। आदिम गुरुकुल कुन्दुली से भी 100 किलोमीटर दूर है। फिर भी ऐसी विपत्ति में सहायता प्रदान करने का यत्न किया है।

–आचार्य कोमल कुमार आर्य

माता राजेश भल्ला कन्या छात्रावास एवं माता परमेश्वरी देवी कन्या विद्यालय सुनाबेड़ा में आर्यवीर दल का शिविर सोत्साह सम्पन्न

गत 3 से 7 अप्रैल तक सुनाबेड़ा अभ्यारण्य के कन्या छात्रावास के प्रांगण में पंचदिवसीय आर्यवीर दल का शिविर गुरुकुल आमसेना के वरिष्ठ अध्यापक आचार्य महेन्द्र कुमार जी के मार्ग दर्शन में सम्पन्न हुआ। इस शिविर में उस क्षेत्र के 40 से अधिक आदिवासी युवकों ने श्रद्धापूर्वक भाग लेकर प्रशिक्षण प्राप्त किया। शिविर के अन्तिम दिन आचार्य कोमल कुमार ने यज्ञ करवाकर सबको यज्ञोपवीत प्रदान किया तथा मद्य, मांस आदि दुर्व्यसनों से दूर रहने का संकल्प करवाया। अन्तिम दिन कन्या आश्रम का वार्षिक महोत्सव पूज्य स्वामी धर्मानन्द जी की उपस्थिति में धूमधाम से मनाया गया। इस अवसर पर उस क्षेत्र की श्रद्धालु मातायें एवं पुरुष उपस्थित थे। सभी ने श्रद्धापूर्वक यज्ञ में आहुति दी तथा पूज्य स्वामी धर्मानन्द जी की प्रेरणा पर उस क्षेत्र में व्याप्त छुआछूत आदि दोषों को छोड़ने का संकल्प लिया। ऋषि लंगर में लगभग 600 से अधिक स्त्री-पुरुषों ने श्रद्धापूर्वक भोजन ग्रहण किया। ऐसे आयोजनों से वहां शनैः-शनैः व्यापक सुधार हो रहा है। छूआछूत मिट रही है। अब वहां के लोग दुर्व्यसन छोड़कर परिश्रम भी करने लगे हैं। इस समय उस क्षेत्र की 70 से अधिक कन्यायें पूर्णतया निःशुल्क शिक्षा प्राप्त कर रही हैं। इसी प्रकार गुरुकुल की ओर से संचालित हाईस्कूल में भी 7 अध्यापकों के मार्गदर्शन में 80 से अधिक बालक-बालिकायें शिक्षा प्राप्त कर रही हैं। इस विद्यालय में अधिकतर छात्र मैट्रिक परीक्षा में भी अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होते हैं। यह हाईस्कूल भी पूज्य स्वामी धर्मानन्द जी की प्रत्यक्ष देख-रेख में गुरुकुल आश्रम आमसेना के सहयोग से चल रहा है।

–मनुदेव वाग्मी (गुरुकुल आश्रम आमसेना)

माह मई-2013 के आर्थिक सहयोगी

आर्य समाज विशाखा एन्कलेव उत्तरी पीतमपुरा दिल्ली	त्रैमासिक	4500/-
ब्रिगेडियर के.पी. गुप्ता जी, सैक्टर-15, फरीदाबाद	त्रैमासिक	3000/-
पुष्पावती पुरी दयानन्द आदर्श विद्यालय, आर्य समाज माडल बस्ती, नईदिल्ली	त्रैमासिक	1500/-
श्री सुशील कुमार आर्य जी, पीतमपुरा, दिल्ली	वार्षिकसहायता	1200/-
श्री वेद रत्न आर्य जी, श्रीमती चन्द्रवदी आर्या, मालवीय नगर, नई दिल्ली	(जन्म दिन की 92वीं वर्षगांठ पर)	1000/-
आर्य मसाज इन्द्रानगर, बगलुरु (कर्नाटक)	मासिक	1000/-
आर्य समाज अनारकली मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली	मासिक	1000/-
श्री बिहारी लाल सतीश कुमार जी, न्यू रोहतक रोड़, नई दिल्ली		1000/-
श्री नरेन्द्र मोहन वलेचा जी महामंत्री, शुद्धि समाज	मासिक	500/-
श्री एन. एम. मलिक जी, कावेरी एन्कलेव, नई दिल्ली		500/-
श्री सुकान्त आर्य जी, आर्य महिला समाज, कासगंज-उ.प्र. (श्री इन्द्रदेव जी द्वारा)		300/-
श्री आर.एस. शर्मा जी, इन्दिरा नगर, गाजियाबाद	मासिक	150/-
श्री जे.वी. दास कोटेचा जी, सरदार पटेल मार्ग, पोरबन्दर गुजरात	मासिक	100/-

श्री वी.के. गुप्त जी द्वारा एकत्रित सहयोग राशि

श्री वी.के. गुप्त जी, डी.डी.ए. फ्लैटस मुनिरिका, नई दिल्ली	सहायता मार्च+अप्रैल	500/-
कुमारी ईशा गुप्ता जी,डी.डी.ए. फ्लैटस मुनिरिका, नई दिल्ली		300/-
श्रीयुत आयुष शर्मा, डी.डी.ए. फ्लैटस मुनिरिका, नई दिल्ली		200/-

श्रीमती सावित्री शर्मा जी द्वारा एकत्रित दान राशि

श्रीमती उमा बजाज जी, ओल्ड राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली	500/-
सुश्री वेदमदान जी, डबल स्टोरी, न्यू राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली	500/-
श्री भीष्म लाल जी, ओल्ड राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली	400/-
श्रीमती नीलम मानिक जी, फरीदाबाद	250/-
श्रीमती सरोज सहगल जी, ओल्ड राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली	200/-
श्रीमती ललिता कुमार जी, ओल्ड राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली	200/-
श्रीमती विमला चौपड़ा जी, ओल्ड राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली	200/-
श्रीमती ज्योति वहल जी, ओल्ड राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली	200/-
श्रीमती तारा ढींगरा जी, न्यू राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली	100/-
श्रीमती राधा नांगिया जी, न्यू राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली	100/-
श्रीमती इन्द्र शर्मा जी, रोहिणी, नई दिल्ली	100/-
श्री रमेश बम्बानी जी, ओल्ड राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली	100/-
श्री प्रेम लाल जी, न्यू राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली	100/-

श्री सत्य प्रकाश आर्य जी द्वारा एकत्रित दान राशि

आर्य समाज विशाखा एन्कलेव उत्तरी पीतमपुरा दिल्ली	त्रैमासिक	4500/-
श्री सतीश आर्य जी आर्य समाज विशाखा एन्कलेव, पीतमपुरा दिल्ली	वार्षिक	1200/-
श्री कस्तूरीलाल वीर जी, प्रेम नगर (आर्यभवन) करनाल हरि.	त्रैमासिक	600/-
श्रीमती सुशीला चावला जी, पीतमपुरा, दिल्ली		200/-
श्रीमती सरला खुराना जी, नीलकण्ठ अपार्ट. रोहिणी, नई दिल्ली		100/-
श्री के.आर. मल्होत्रा जी, पीतमपुरा दिल्ली		100/-
श्री सत्य प्रकाश आर्य जी प्रधान आर्य समाज विशाखा एन्कलेव		100/-

श्री चन्द्रभान चौधरी जी द्वारा एकत्रित दान राशि

कुमारी गरिमा जी, बी-2, पश्चिम विहार, नई दिल्ली	1000/- मासिक
श्रीमती चन्द्रकला राजपाल जी, पश्चिम विहार, नई दिल्ली	500/- मासिक
डा. पुष्पलता वर्मा जी, प्रधान-आर्य समाज विकासपुरी, नई दिल्ली	100/- मासिक
श्री एस. के. मलोहत्रा जी, लक्ष्मी फर्नीचर गुलाब बाग, नई दिल्ली	300/-
श्री आर.सी. झा जी, अनुरुध्या अप. विकासपुरी, नई दिल्ली	100/-
श्री सुखदेव महाजन जी, विकासपुरी, नई दिल्ली	50/- मासिक
श्रीमती ऊषा कुकरेजा जी, विकासपुरी, नई दिल्ली	50/- मासिक
श्रीमती संतोष कोछड़ जी, विकासपुरी, नई दिल्ली	50/- मासिक
श्री कर्मवीर मनचंदा जी, विकासपुरी, नई दिल्ली	50/-
श्री सरज प्रकाश आर्य जी, विकासपुरी, नई दिल्ली	50/- प्रत्रिका
कुमार स्टील वर्कश, गुलाब बाग, उत्तम नगर, नई दिल्ली	50/- प्रत्रिका
आंचल क्लाथ एमपोरियम, अशोक नगर नई दिल्ली	50/- प्रत्रिका

मुद्रक, व प्रकाशक - रामनाथ सहगल द्वारा गुरमत प्रिंटिंग प्रेस, 1337, संगतरासन, पहाड़ गंज, नई दिल्ली-55 दूरभाष : 23561625, से मुद्रित एवं भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा, 6949, बिड़ला लाइन दिल्ली-7 दूरभाष : 23847244 से प्रकाशित। सम्पादक : डा. भारद्वाज पाण्डेय